गृहस्थाश्रम-व्युत्पत्ति और अर्थ, स्वरूप और विशेषता, गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता, गृहस्थ के कर्तव्य, पञ्चमहायज्ञ

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

गृहस्थाश्रम क्रम में यह मनुष्य जीवन का दूसरा भाग है। प्रथम आश्रम में सम्पूर्ण अध्ययन पूर्वक अपनी शिक्षा समाप्त करके समावर्तन संस्कार से स्नातक बन कर व्यक्ति उपयुक्त कन्या से विवाह पूर्वक गृहस्थाश्रम प्रारम्भ करता है और गृहस्थ कहलाता है। गृहस्थाश्रम व्यक्ति के जीवन का वह भाग है, जिसपर उसकी, उसके परिवार की, समाज की और राष्ट्र की उन्नति निर्भर करती है। यह मानव जीवन का वह स्वर्णिम काल है, जिसमें वह धर्म, अर्थ, काम-इन तीन पुरुषार्थों का यथोचित सेवन कर सकता है। यही वह आश्रम है जिसमें व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम-इस त्रिवर्ग का यथोचित सेवन कर सकता है।

इस आश्रम की बहुमुखी प्रशंसा से संस्कृत शास्त्र एवं काव्य आद्यन्त व्याप्त हैं। गृहस्थाश्रम की यह प्रशंसा अनायास ही नहीं है। इस आश्रम के लिए विहित विशिष्ट धर्मों ने ही इसे इतना प्रशंसनीय बना दिया। कतिपय विशिष्ट कर्तव्य ऐसे हैं, जिनका पलन गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों में हो ही नहीं सकता।

महर्षि वेदव्यास ने मानव जीवन के चार भागों में से दूसरा भाग इसी आश्रम के लिए निर्धारित करके इसकी अनिवार्यता को अभिव्यक्त किया है-

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः।

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधो भवेद्व्रती।।

आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य ने भी मनुष्य के लिए विधान किया है कि वह ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक प्रवेश करे और शुभलक्षण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे। गृहस्थाश्रम के लिए आयु का दूसरा भाग इसीलिए निर्धारित किया गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति का बौद्धिक

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

विकास होता है, इसके पश्चात् ही वह आत्मिक विकास करने में समर्थ होता है। ज्ञानसम्पन्न और बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ही गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन कर सकता है और व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकता है। भारतीय परम्परा में यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण, वेदशास्त्र श्रवण, सन्तानोत्पादन, त्रिवर्गसेवन आदि बहुत से कर्तव्य गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित बताए गए हैं।गृहस्थ व्यक्ति के प्रमुख कर्तव्य इस प्रकार हैं-

(क) गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित व्यक्ति का सर्वप्रमुख कर्तव्य है गुणसम्पन्न स्त्री से विवाह करना। भारतीय परम्परा के अन्तर्गत काम पुरुषार्थ का सेवन और सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त विविध धार्मिक क्रियाओं की पूर्णता स्त्री के अभाव में नहीं हो सकती। महर्षि वेदव्यास ने गृहस्थाश्रम को पुत्रप्राप्ति के लिए भी आवश्यक बताया है क्योंकि हमारे यहाँ पुत्र मनुष्य को 'पुम्' नामक नरक से छुटकारा दिलाने वाला माना जाता है। इसीलिए विवाह संस्कार द्वारा ही इस आश्रम में वंश परम्परा को स्थिर रखा जा सकता है और व्यक्ति पितृ-ऋण से भी मुक्त हो सकता है।

(ख) गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति का दूसरा परमावश्यक कर्तव्य है-पञ्चमहायज्ञसम्पादन। भारतीय संस्कृति के प्रतीक इन पञ्चमहायज्ञों का परिचय इस प्रकार है-

यज्ञों का भारतीय जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय आर्यों का जीवन यज्ञमय होता था।'यज्ञ' शब्द ईश्वर की उपासना और त्याग का प्रतीक था। इस प्रकार आर्यों ने जीवन में त्याग को भोग से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है-तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। गृहस्थाश्रम में सामान्य रूप से पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान के रूप में विधान किया जाता था। ये पाँच महायज्ञ इस प्रकार हैं-ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ।ये यज्ञ सरल थे। इन्हें प्रत्येक गृहस्थ विना किसी पुरोहित के ही सम्पादित कर सकता था। इन यज्ञों का मुख्य उद्देश्य ईश्वर, समाज और मनुष्य मात्र के प्रति कर्तव्यपालन था।

इन पञ्चयज्ञों का परिचय इस प्रकार है-

ब्रह्मयज्ञ-

ब्रह्मयज्ञ का प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। ब्रह्मयज्ञ का अभिप्राय स्वाध्याय एवं वेदाध्ययन है। वेद के नित्य अध्ययन-अध्यापन से व्यक्ति अपने ज्ञान की सतत वृद्धि के प्रति सचेष्ट

E-Learning material prepared by Dr Dhananjay Vasudeo Dwivedi

रहता है- स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्। स्वाध्याय के बाद ब्रह्मयज्ञ का दूसरा भाग प्रवचन भी है। प्राचीनकाल में गुरु शिष्यों को वेद-वेदांगों की शिक्षा दिया करते थे, जिससे वेदाध्ययन की परम्परा एवं स्वाध्याय की इच्छा बनी रहे।इस वेदाध्ययन के अतिरिक्त वेदाध्ययन की शिक्षा देना भी ब्रह्मयज्ञ है। कालान्तर में वेदों के अध्ययन के साथ-साथ सन्ध्योपासना, ईश्वरस्तुति, गायत्री मन्त्र का जाप भी ब्रह्मयज्ञ के प्रतीक बन गए। जब गुरु शिष्य को वेदाध्ययन की शिक्षा देता है, अथवा पिता पुत्र को शिक्षा देता है तो सिखाने वाले गुरु या पिता का स्वाध्याय भी चलता रहता है, फलस्वरूप उसके ज्ञान में वृद्धि होती है। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ ब्रह्मचर्याश्रम में ही समाप्त नहीं हो जाता है, वह गृहस्थाश्रम में भी चलता रहता है।पञ्चमहायज्ञों के ही प्रसंग में हमारे ऋषियों ने स्वाध्यायरूपी ब्रह्मयज्ञ के नैरन्तर्य को गृहस्थ के लिए अनिवार्य माना है।

पितृयज्ञ

पितृयज्ञ में प्रतिदिन पितरों का सम्मान किया जाता है। इस यज्ञ से साधारणतया पितरों आदि के तर्पण का तात्पर्य लिया जाता है। एक गृहस्थ के लिए यह यज्ञ अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। पितरों को देवता मानकर इनका तर्पण करना उचित माना जाता है। हमारे महाकवियों का वचन भी इस सम्बन्ध में प्रमाण है। अयोध्या नरेश दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनकर, श्रीराम ने वन में वसिष्ठजी के आदेशानुसार उनका श्राद्धादि कर्म किया था। भारतीय ऋषियों ने पितृयज्ञ का विधान किया ताकि सन्तति माता-पिता का भरण-पोषण भी करे और दिवंगत माता-पिता का श्राद्ध भी करे। यह यज्ञ श्रद्धा से किया जाता है, इसीलिए इसको श्राद्ध भी कहते हैं। आचार्य मनु ने पितरों के तर्पण को पितृयज्ञ और श्राद्ध कहा है। उनके अनुसार प्रतिदिन अन्न, जल, दूध,अथवा फलों से पितरों को सन्तुष्ट करते हुए श्राद्ध किया जाना चाहिए। पितरों के लिए दक्षिण दिशा में बलि देनी चाहिए-

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्।।

देवयज्ञ-

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

देवताओं की स्तुतिपूर्वक हवन करना ही देवयज्ञ है। वैदिक साहित्य में इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु आदि को दिव्यशक्ति सम्पन्न मानकर उनकी स्तुति की गई है। वस्तुतः हवन के माध्यम से मनुष्य देवताओं से प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। प्राचीनकाल में आर्य अग्निहोत्र किया करते थे। एतदर्थ वे अग्नि प्रज्वलित करके, वेदमन्त्रों का पाठ करते हुए विभिन्न देवताओं के लिए घृत आदि पदार्थों की आहुति दिया करते थे। हवन की प्रशंसा में आचार्य मनु का भी मत है कि विधिपूर्वक अग्नि में डाली गई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। मनु हवन को भरण-पोषण का अनिवार्य हेतु मानते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में भी उपदेश दिया गया है कि स्वर्ग की कामना करने वाले को अग्निहोत्र सम्पन्न करना चाहिए-अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वर्गकामम्।स्वास्थ्य की दृष्टि से हवन का बड़ा महत्त्व है, इससे वातावरण शुद्ध होता है। मानवीय संस्कृति में अग्नि का भी महत्त्व है, क्योंकि उसमें शुद्धीकरण का सामर्थ्य है। इसीलिए अग्निहोत्र रूप देवयज्ञ का महत्त्व है।

भूतयज्ञ-

भूतयज्ञ को बलिवैश्वदेव यज्ञ भी कहा जाता है। आचार्य मनु के अनुसार गृहस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रतिदिन अग्नि में पकाए हुए अन्न का इन्द्रादि सभी देवताओं के लिए हवन करे। इस यज्ञ की विधि यह है कि जो कुछ भोजन बना हो, उसमें से थोड़ा-सा लेकर पाकशाला की अग्नि में डालना चाहिए और इस समय कुछ विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्न कुत्तों, पतितों, रुग्णों, कौओं और कीड़ों के लिए भी रखना चाहिए।वास्तव में भूतयज्ञ का अभिप्राय सभी प्राणियों का भरण-पोषण और उनके लिए सुख की कामना करना है। यही यज्ञ व्यक्ति को त्यागपूर्वक भोग की शिक्षा देता है। ऋग्वेद में एकाकी ही भोजन करने वाले व्यक्ति को पापों को खाने वाला बताया गया है-केवलाघो भवति केवलादी। भगवान् श्रीकृष्ण भी इस बात को मानते हैं कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले पापों से मुक्त हो जाते हैं और पापी केवल अपने ही लिए भोजन बनाते हैं, वे वस्तुतः भोजन नहीं पाप को ही खाते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

महर्षि वेदव्यास ने तो यज्ञ से अवशिष्ट भोजन को अमृत और हविष्यान्न बताकर 'भूतयज्ञ' की महत्ता बताई है-

अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम्।

अतएव सभी प्राणियों की तृप्ति भूतयज्ञ हैं। यह भूतयज्ञ व्यक्ति को सभी प्राणियों के प्रति उत्तरदायी बनाता है, तथा आत्मकेन्द्रीकरण से दूर करता है और मोक्ष को भी प्राप्त कराता है।

नृयज्ञ-

नृयज्ञ हमारी आश्रमव्यवस्था से सम्बन्धित मानवीय भावना का प्रतीक है। अतिथियों का सत्कार करना ही नृयज्ञ है। भारतीय समाज में अतिथि सत्कार की परम्परा वैदिक युग से ही रही है और अतिथि को देवता माना गया है-'अतिथि देवो भव'। हमारे प्राचीन साहित्य में अतिथि सत्कार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। धनी और निर्धन अपने सामर्थ्य के अनुसार अतिथिसत्कार की परम्परा का निर्वाह करते हैं। महाभारत में अतिथिसत्कार को सबसे बड़ा धर्म मानते हुए कहा गया है-

अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।

नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः।।

मनु के मतानुसार घर पर आए हुए अतिथि का यथाशक्ति सत्कार और सेवा करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है। आसन, विश्राम, अनुगमन आदि से उसका पूजन करना चाहिए, उसको भोजन कराए बिना भोजन नहीं कराना चाहिए और यदि भोजन न भी हो तो आसन, जल तथा मीठी वाणी से उसे सन्तुष्ट करना चाहिए। भारतीय संस्कृति के संरक्षक भगवान् श्रीकृष्ण ने भी देवर्षि नारद, जो उनके पास आये थे, की अर्घ्यादि सामग्रियों से विधिवत पूजा की और अपने ही हाथ से दिए हुए आसन पर उन्हें बैठाया और इस प्रकार अतिथिसत्कार की प्रशंसनीय परम्परा का आदर्श उपस्थित किया-

तमर्घ्यमर्घ्यादिकमादुपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।

गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः।।

अतः अतिथि सत्कार का हिन्दूसंस्कृति में बड़ा महत्त्व है। महाभारत में तो यहाँ तक कहा गया है कि अतिथि जिस घर से निराश लौटता है, उस घर का पुण्य लेकर उसे पाप ही दे जाता है। इस तरह

E-Learning material prepared by Dr Dhananjay Vasudeo Dwivedi

अतिथिसत्कार को मानवीय कर्तव्य मानने के साथ-साथ पुण्य से भी जोड़कर उसकी अनिवार्यता की पुष्टि की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम में स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित है, जो स्पष्ट करता है कि ज्ञानार्जन सदैव आवश्यक है। शेष चार यज्ञ मनुष्य को त्यागमय भोग की शिक्षा देते हुए व्यक्ति के अन्दर कृतज्ञता, श्रद्धा, निर्लोभता आदि गुणों को भरते हैं। इन यज्ञों से ही हमें यह प्रेरणा मिलती है कि हम जन्म देने वाले माता-पिता के प्रति श्रद्धा रखें, संसार को रहने योग्य बनाने वाले देवताओं के प्रति कृतज्ञता रखें, पशुओं, पक्षियों एवं अशक्त मनुष्यों के प्रति सेवाभाव रखें। हमें अपने आपको पितरों, देवताओं और ऋषियों का ऋणी मानना चाहिए और ऋणमुक्ति की कामना से इन पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन विधिपूर्वक करना चाहिए।

(ग)ऋणत्रय से मुक्त होना भी गृहस्थ का तीसरा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हम जन्म लेते ही अपने देवताओं, ऋषियों और पितरों के प्रति ऋणी हो जाते हैं। इसीलिए उपनयन संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी को जो तीन सूत्रों वाला यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है उसके ये तीन सूत्र तीन ऋणों के प्रतीक हैं- देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण। आचार्य मनु ने भी गृहस्थ के लिए तीन ऋणों से मुक्त होना आवश्यक माना है। मनुस्मृति में कहा गया है-

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

मनुष्य दिव्यशक्तियों के कारण ही उपलब्ध सृष्टि के साधनों का उपयोग कर सकता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे स्वच्छ हवा, जल, प्रकाश और ऊष्मा मिलती है। अतएव मनुष्य को ईश्वर एवं देवताओं के प्रति ऋणी होना चाहिए और यज्ञों तथा प्रार्थनाओं से देवताओं को प्रसन्न करके देव ऋण को चुकाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य ऋषि कृपा से ही ज्ञानवान् बनता है और अपनी योग्यता के अनुरूप जीवन दर्शन पाता है, अतएव जीवन पथ को ज्ञानज्योति से प्रकाशित करने वाले गुरु के प्रति ऋणी होना चाहिए। ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, विद्याभ्यास, गुरुदक्षिणा आदि के द्वारा ऋषि ऋण से मुक्त होना चाहिए।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, आचार्य द्वारा प्रदत्त ज्ञान को ग्रहण करना और ग्रहण करना और ग्रहण किए हुए ज्ञान से दूसरों को लाभान्वित करना ही ऋषि ऋण से मुक्ति का उपाय है।

माता-पिता सन्तानोत्पत्ति करके अपने वंश की परम्परा को बनाए रखते हैं, और अपनी सन्तति के पालन-पोषण हेतु अनेक कष्ट सहते हैं। संसार में अपने शुभागमन और यहाँ के सुख भोगने का सामर्थ्य मनुष्य अपने माता-पिता से ही प्राप्त करता है, अतः वह अपने माता-पिता के प्रति ही नहीं, अपने पूर्वजों के प्रति भी ऋणी माना जाता है। यही पितृ ऋण है। इस ऋण से मुक्ति के लिए उसे श्राद्ध और सन्तानोत्पादन करना चाहिए। श्राद्ध द्वारा वह अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है और सन्तानोत्पादन द्वारा अपनी वंश परम्परा को अविच्छिन्न रख सकता है। इसके अतिरिक्त प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा को प्रसन्न कर सकता है क्योंकि वह सृष्टि नैरन्तर्य के प्रतीक हैं।

इस प्रकारयज्ञ, प्रजनन तथा स्वाध्याय द्वारा व्यक्ति ऋणत्रय से मुक्त होता है। इन तीनों ऋणों से मुक्त हुए विना गृहस्थ को वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्राप्त नहीं होती थी, और यदि वह ऐसा करता था तो उसकी अधोगति मानी जाती थी।

(घ) गृहस्थ को अपने वर्ण के अनुसार आजीविका द्वारा धनोपार्जन करना चाहिए क्योंकि धनोपार्जन से ही गृहस्थ व्यक्ति पञ्चमहायज्ञ सम्पादन, अतिथि सत्कार, ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों का पालन-पोषण, अपने परिवार का भरण-पोषण आदि कर्तव्यों का पालन कर सकता है। महर्षि वेदव्यास ने न्यायपूर्वक धन का सञ्चय करने का उपदेश दिया है, तथा उस धन के सदुपयोग का भी निर्देश दिया है-

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत् दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।

अनाददाश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी।।

(ङ) गृहस्थ व्यक्तियों के लिए 'दान देना' भी हमारे मनीषियों ने आवश्यक कर्तव्य बताया है। हमारा इतिहास साक्षी है कि कर्ण, दधीचि, शिव आदि हमारे पूर्वपुरुष अपनी दानवीरता के कारण ही विख्यात हुए। गृहस्थ व्यक्ति अपने उपार्जित धन को पूर्णरूप से अपना न समझे, क्योंकि उसके धन पर समाज के उन व्यक्तियों का भी अधिकार है, जो धनोपार्जन नहीं करते। आचार्य मनु ने

E-Learning material prepared by Dr Dhananjay Vasudeo Dwivedi

इसीलिए ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा भिक्षुक को भिक्षा देने का विधान किया है। उनका मानना है कि अपनी शक्ति के अनुसार ही ब्राह्मण को दान देना चाहिए, कुपात्र को दान नहीं देना चाहिए, न्यायपूर्वक अर्जित धन में से ही दान देना चाहिए क्योंकि सत्पात्र को दिया गया दान बड़े से बड़े पाप से भी व्यक्ति को मुक्त कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी पात्रता और देशकाल के आधार पर दिए हुए दान के तीन भेद किए हैं, सात्त्विक, राजस और तामस-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।

(च) ब्रह्मचर्य व्रत के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् गृहस्थ का एक प्रमुख कर्तव्य है धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग का सेवन। गृहस्थ त्रिवर्ग की सिद्धि और सेवन के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है। महर्षि वेदव्यास ने तो इन तीन पुरुषार्थों के विना वैराग्य की ओर उन्मुख होना अनुचित माना है।

(छ) गृहस्थ पुरुष को चाहिए कि वह सदाचार का पालन करे। वह अपने घर में ममता तथा आसक्ति से ही रहित होकर रहे, सत्य और सरलता को अपनाए, अतिथिपूजन, धर्म, अर्थ तथा काम का सेवन करके अपने धर्म का पालन करे।

(ज) गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करते हुए मनु ने लिखा है कि गृहपति को दश प्रकार के धर्मों का सेवन करना चाहिए। ये धर्म हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोधत्याग। इसका कारण यह है कि परलोक में केवल धर्म ही सहायक होता है।

गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्यों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थ व्यक्ति संयम और सदाचारपूर्वक सत्कर्मों का पालन करे। वह अपनी किसी भी उपलब्धि के प्रति आसक्त न हो और परिवार,

E-Learning material prepared by Dr Dhananjay Vasudeo Dwivedi

समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक पालन करे। पञ्चमहायज्ञ एवं पञ्च-ऋणों की परिकल्पना भी सोद्देश्य है, जिनको अनिवार्य कर्तव्य मानकर गृहस्थ लोक-कल्याण करने में लग सकता है।

आश्रमों में गृहस्थाश्रम की द्वितीय स्थान पर गणना होती है, किन्तु यह अन्य सभी आश्रमों का आधार बताया गया है। धर्मसूत्रों में कहा गया है कि आरम्भ में केवल यही एक आश्रम था। पुराणों में गृहस्थाश्रम को अन्य सभी आश्रमों का जनक बताया गया है। गृहस्थाश्रम को सामाजिक जीवन में अपनी विशिष्टता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्पादनशीलता इस आश्रम की सबसे बड़ी विशेषता है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम मनुष्य जीवन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे समुचित रूप से यापन करना कल्याणकारी है क्योंकि हमारे विद्वान् पूर्वजों ने गृहस्थ आश्रम को ही अन्य आश्रमों का मूल बताया है। आचार्य मनु का मत है कि जैसे वायु सब प्राणियों का आधार है, उसी तरह यह गृहस्थाश्रम भी सभी आश्रमों का आधार है-

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः।।

गृहस्थाश्रम भौतिक सिद्धियों और सुखों का आधार है। इसी आश्रम में व्यक्ति अपनी लौकिक इच्छाओं को सन्तुष्ट करता है। इसी आश्रम में सभी सुखों जैसे दामपत्य सुख, पुत्र-पौत्र सुख, दान सुख, मनोरञ्जनादि सुख की उपलब्धि होती है। महाभारतकार के अनुसार इस आश्रम में नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, अंगराग, भोजन सम्बन्धी अनेक प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होती है।

महर्षि वेदव्यास ने गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों का मूल माना है, और मनु के अनुसार ही गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता तथा आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। महापुरुषों और महाकवियों के वचनों को प्रमाण मानते हुए कहा जा सकता है कि वास्तव में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम है और अन्य आश्रमों का आधार स्तम्भ है। हमारी आश्रम व्यवस्था की सफलता इसी पर निर्भर है क्योंकि गृहस्थ व्यक्ति वे सभी कार्य करता है जो ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी नहीं करते। गृहस्थ व्यक्ति का प्रमुख कर्तव्य है- धनार्जन। इस धन को वह अध्ययन, कृषि, वाणिज्य, युद्ध में विजय, शिल्प आदि से प्राप्त कर सकता है

और उपभोग के सभी साधनों को जुटा सकता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी धनार्जन नहीं करते, उनका कार्य क्रमशः विद्यार्जन, मुनिवृत्ति और योग है। ऐसी स्थिति में इन तीनों के लिए दैनिक उपयोग की वस्तुएं जुटाना गृहस्थ का ही उत्तरदायित्व हो जाता है। इसके साथ ही विवाह करके सन्तानोत्पादन करना भी गृहस्थ का पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्य है को ब्रह्मचारी नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, अक्षम व्यक्तियों तथा पशु-पक्षियों के पालन-पोषण का भार भी गृहस्थ पर ही होता है।इन सब कर्तव्यों का पालन गृहस्थ को सत्यनिष्ठा, सदाचारपालन तथा संयमपूर्वक करता है। मनुष्य को वैयक्तिक रूप से समुन्नत बनाने के लिए प्रयुक्त संस्कार व्यवस्था के षोडश सोपानों में से दश-विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा कर्णवेध-इसी आश्रम में सम्पन्न किए जाते हैं। इन संस्कारों से व्यक्ति का जो व्यक्तितत्व बनता है वह आजीवन अक्षुण्ण रहता है। गृहस्थाश्रम का समय मनुष्य का उपासनाकाल है, साधना की अवधि है जिसमें वह आत्महित साधना के साथ-साथ परहित साधना भी करता है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम मानवजीवन की पूर्णता का आश्रम है।

E-Learning material prepared by Dr Dhananjay Vasudeo Dwivedi